भारत में शिक्षा शोध की अवस्था

शंकर शरण*

यह लेख देश में स्कूली शिक्षा से संबंधित शोध कार्यों की समीक्षा है। यह समीक्षा दो वर्ष से अधिक समय तक विभिन्न शोध-पत्रों, शोध-संक्षेपों, शोध-रिर्पोटों और शोध-प्रस्तावों के अवलोकन पर आधारित है। साथ ही, शोध से संबंधित कई सेमिनार, कार्यशाला आदि के अनुभव भी इसमें शामिल हैं। जान पड़ता है कि शिक्षा शोध एक भारी ठहराव की स्थिति में फँसा हुआ है। लगभग सभी शोध कार्य एक ही घिसे-पिटे विदेशी मॉडल और विशिष्ट शब्दावली (जार्गन) का अंधानुकरण हैं। उनसे कोई नई जानकारी या विश्लेषण शायद ही मिलता है। फिर, वैसे सतही शोध कार्य करने वाले भी अधिक नहीं मिलते। शिक्षा-शोध को प्रोत्साहन और आर्थिक सहयोग देने वाली समितियों में स्वीकार किए जाने लायक शोध-प्रस्ताव बहुत कम आते हैं। शिक्षा शोध में मुक्त चिंतन के मार्ग में भाषा का अवरोध भी बहुत बड़ा है। अँग्रेज़ी से एक ओर स्पष्ट अभिव्यक्ति और वैचारिक आदान-प्रदान में बाधा आती है। दूसरी ओर, इससे चल रहे शिक्षा कार्यों की कई कमियाँ छिपी भी रह जाती हैं। इस पूरी समस्या में उचित मार्ग-दर्शन का अभाव भी एक बड़ा कारक है। शिक्षा शोध की वर्तमान अवस्था से संबंधित यह सभी निष्कर्ष कम से कम चार सौ से अधिक शोध-संक्षेपों, रिर्पोटों, प्रस्तावों, पत्रों आदि के अध्ययन के उपरांत लिए गए हैं।

महान रूसी लेखक सोल्झेनित्सिन के उपन्यास कैंसर वार्ड में एक साहित्य प्रेमी पात्र है— द्योमका। अपने बिस्तर पर पड़े वह पुस्तकें पढ़ता रहता है। एक बार उसके वार्ड में साहित्य और लेखन पर बातचीत हो रही थी। उसमें द्योमका सरल आश्चर्य से बोलता है, 'पहले कितने कम लेखक थे, लेकिन उनकी बातें, कहानियाँ सब याद रहती थीं। आज असँख्य लेखक हो गए हैं, पर उनकी किताबें पढ़ों तो लगता है जैसे कुछ पढ़ा ही नहीं। पढ़ने से पहले और बाद कोई अंतर

* *प्रवक्ता*, डी.ई.एस.एस.एच., एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली-16

नहीं पड़ता।' जिस सरलता से द्योमका वह कहता है, वह छू लेने वाली है। पर सोवियत काल के लेखन पर उसके अनुभव का अंतर्निहित संदेश गंभीर है।

यदि आज भारत में शिक्षा शोध संबंधी पूरे साहित्य को द्योमका पढ़ता तो उसकी टिप्पणी वही होती। शोध-पत्र, डॉक्टरेट मिले शोध-ग्रंथ, शोध के नए प्रस्ताव, शोध-पत्रिकाएँ, आदि में दी गई सामग्री वैसी ही लगती है। उन्हें पढ़ लेने के बाद पाठक को प्रायः कोई नया ज्ञान या नया विचार नहीं मिलता। सामान्य जानकारियों को ही भारी-भरकम या कृत्रिम रूप में रखकर, और उसी का निरन्तर दुहराव हमारे देश में शिक्षा-शोध की विशेषता-सी बन गई लगती है।

कृपया विचारें-उस खाद्य-प्रदर्शनी को क्या कहा जाए जिसमें प्रत्येक स्टॉल पर केवल खिचड़ी का प्रदर्शन हो। स्थिति की दयनीयता तब और विचित्र लगेगी जब हरेक स्टॉल का संचालक मानता हो कि उसने दर्शक को कोई नई वस्तु दिखाई है तथा अन्य स्टॉलों पर कोई अन्य पदार्थ है। शिक्षा-शोध संबंधी ग्रंथों, शोध-पत्रों, नए प्रस्तावों, किसी शोध की रिपोर्ट आदि पढ़कर अनुभूति होती है कि यही चीज असँख्य बार आ चुकी है। किंतु जैसे शोधकर्ता इससे नितांत अनजान हैं। वह बार-बार एक ही तरह की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। शीर्षकों में मामूली हेर-फेर के साथ एक ही तरह के अध्ययनों से शिक्षा-शोध का भंडार अटा पड़ा है। इसका कारण एक तो यह है कि हमारे देश में शिक्षा-शोध को एक विशेष प्रकार की, अबूझ शब्दावली में बाँध दिया गया है। यह शब्दावली और शिक्षा-शोध का संपूर्ण माडॅल अमेरिकी मनोविज्ञान संघ (अमेरिकन साइकोलॉजिकल एसोसियशन) के मानकों का अनुपालन करता है। उसके विचारों, सिद्धान्तों और शोध-योजनाओं को ही यहाँ अनुकरणीय आदर्श मान लिया गया है। वही निरंतर सुनते और प्रयोग करते-करते नया शोध-छात्र उस शब्दावली को शोध की अनिवार्य आवश्यकता मान लेता है। उसमें स्वतंत्र चिंतन की क्षमता और कोई नया, साहसपूर्ण लेखन करने की भावना पैदा नहीं होती। अतः जब भी वह कोई शोध-पत्र लिखता या प्रस्ताव देता है, तो उस दुरुह शब्दावली के उपयोग के बिना चलना निरापद नहीं समझता। फलतः एक प्रकार से मात्र अनुकरण और नकल भर करने लगता है। एक नियत मॉडल और शब्दावली के नकल और दुहराव की विवशता धीरे-धीरे पूरे कार्य का दुहराव बन जाती है।

किंतु ऐसा नहीं लगता कि यहाँ इस पर कभी गंभीर विचार-विमर्श हुआ कि आखिर हमारे देश में शिक्षा-शोध के मामले में 'मनोविज्ञान' और 'शिक्षा' को एक क्यों समझ लिया। यह तो एक संपूर्ण विषय की दूसरे विषय पर पूर्ण और अनावश्यक निर्भरता हुई। इसकी कहीं कोई व्याख्या नहीं दी जाती कि ऐसा क्यों कर लिया गया है। दूसरे, जो शब्दावली एक हाल के अमेरिकी समाज की विशेषता, आवश्यकता और आकाँक्षाओं से पैदा हुई, वही हजारों मील दूर स्थित एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और गुणात्मक रूप से भिन्न एक समाज के लिए कैसे यथावत् उपयुक्त हो सकती है – इसका भी कहीं विचार किया गया नहीं मिलता। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि उस दुरुह, विचित्र शब्दावली का निरंतर प्रयोग

शिक्षा-शोध की मुख्य पहचान बन गई है, जिसे प्रायः ठीक से समझा भी नहीं जाता।[1] किन्तु उस शब्दावती के प्रति आदर इतना है कि बिना समझे भी उसे पूरे विश्वास से दुहराया जाता है, ताकि प्रस्तुत पत्र को शोध-पत्र समझा जाए।

नितांत विजातीय मॉडलों और मानकों पर निर्भरता के कारण हमारे शिक्षा-शोध के प्रेरक व्यक्तित्व भी पूर्णतः विदेशी विद्वान ही रह गए हैं। कुछ वर्षों पहले बडोदरा के एक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में शिक्षा-शोध संबंधी लेखन का प्रशिक्षण देने के लिए एक पाँच दिवसीय कार्यशाला हुई। उसमें 70 से अधिक युवा लेक्चरर, शोध-छात्र उपस्थित थे, तथा उन्हें शोध के विभिन्न पक्षों की जानकारी तथा प्रशिक्षण देने के लिए पाँच दिनों में कोई 25 विशेषज्ञ प्रोफेसर आए थे। लगभग सभी प्रशिक्षु और प्रशिक्षण बुद्धिमान व कर्तव्यनिष्ठ लोग थे, जैसा प्रायः नहीं देखा जाता। किन्तु उन पाँच दिनों, दस सत्रों में इतने लोगों के विचार-विमर्श में कभी एक बार भी किसी भारतीय शिक्षा-चिंतक का नाम नहीं लिया गया।

वह कोई अपवाद घटना नहीं थी। शोध-ग्रंथों, पत्रों, आदि के अंत में दी गई पुस्तक एवं सन्दर्भ सूची में भी दयानंद सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री अरविन्द, विवेकानंद, महात्मा गाँधी, गिजूभाई बधेका, डॉ. राधाकृष्णन्, महादेवी वर्मा आदि नाम शायद ही कभी मिलते हैं। जबकि आधुनिक भारत में ठीक शिक्षा के क्षेत्र में इन मनीषियों का बड़ा अवदान रहा है। किंतु आज शिक्षा में इनकी कोई प्रेरणा नहीं झलकती, यद्यपि इसका कहीं कोई कारण नहीं बताया जाता। न ही कभी विचार करके यह घोषित किया गया है कि इनकी कोई उपयोगिता अब शिक्षा चिंतन या विमर्श को नहीं रही। तब इनके नाम गुम होने का इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं जान पड़ता कि इन सबका स्थान कतिपय विदेशी प्रेरकों ने स्वतः ले लिया है। यह कोई देशी विदेशी वाला संकीर्ण तर्क नहीं है, बल्कि उस एकांगिता और परमुखापेक्षिता का संकेत है जिससे वर्तमान शिक्षा ग्रस्त जान पड़ती है।

एक कठिन पारिभाषिक शब्दावली और विदेशी मानक को अपना आदर्श मान लेने से मानसिक जड़ता से बचा नहीं जा सकता। क्योंकि वह अपने परिवेश से कटा-छँटा यांत्रिक विचार बन जाता है। हमारे समाज की समस्याओं, भावनाओं, आवश्यकताओं और विशिष्टता से वह कम ही जुड़ पाता है। इस प्रकार, एक पूरा विषय वैचारिक जड़त्व का शिकार हो गया है। एक सीमित प्रकार की गतिविधि शिक्षा शोध का पर्याय बन गई है। स्कूलों में विद्यार्थियों, शिक्षकों अथवा माता पिताओं से बार-बार प्रश्न पूछना, उत्तरों को एकत्र करना और उनकी तालिका बनाकर कुछ वर्णन कर देना ही अधिकाँश होता है। उस प्रक्रिया में जिन विचित्र, पारिभाषिक शब्दावलियों का प्रयोग होता है, उनकी कोई आवश्यकता या अर्थ भी स्पष्ट नहीं होता। फिर भी, निरंतर ऐसी ही गतिविधि ही देश भर में दुहराई जा रही है। विश्वविद्यालयों के

[1] इस प्रसंग में विश्वप्रसिद्ध विद्वान गुन्नार मिर्डल की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है, 'समाज विज्ञान में विचारों को स्पष्ट और सीधे रूप में रखने की महान परंपरा रही है। किंतु हाल के दशकों में समाज विज्ञानियों में अपने को एक अनावश्यक, विस्तृत और विचित्र शब्दावली में बंद कर लेने की प्रवृति आ गई है। इससे प्रायः वे एक-दूसरे की बातें समझ नहीं पाते, कभी-कभी तो अपनी बात भी नहीं।' *ऑब्जेक्टिविटी इन सोशल रिसर्च* (लंदन : जेराल्ड डकवर्थ, 1969), पृ. 42. यह बात हमारे शिक्षा-शोध पर सटीक बैठती है।

डॉक्टरेट शोध-ग्रंथों तथा शिक्षा-शोध की अकादमिक पत्रिकाओं को सरसरी नजर से देखने पर ही यह बात स्पष्ट हो जाती है।

पिछले वर्षो में प्रस्तुत ऐसे शोध, उनकी रिपोर्टों, सार-संक्षेप, शोध-लेखों, नए शोध के अनेक प्रस्तावों, आदि सामग्री के अध्ययन के पश्चात् कोई अवलोकनकर्ता निम्नलिखित निष्कर्षो पर पहुँचता है। निस्संदेह, यह निष्कर्ष बिल्कुल सटीक और शत-प्रतिशत ही हों, ऐसी बात नहीं। किसी निष्कर्ष में अतिरंजना अथवा भूल भी हो सकती है। किंतु इन से भारत में शिक्षा-शोध की वर्तमान अवस्था को समझने में सहायता मिल सकती है।

स्थिति को तुलनात्मक रूप से समझने के लिए चिकित्सा-शोध की एक कल्पना करें। क्या ऐसा सोचा जा सकता है कि चिकित्सा-शोध के नाम पर शोधकर्ताओं को केवल थर्मामीटर का उपयोग करना सिखाया जाए, हर तरह के थर्मामीटर, रोगियों पर, स्वस्थ लोगों पर, भिन्न मौसम में, भिन्न स्थानों पर, विभिन्न परिस्थितियों में—किंतु केवल थर्मामीटर का उपयोग, और इससे मिलने वाले परिणाम, साथ ही रोगियों-डॉक्टरों-नर्सों से अस्पताल की व्यवस्था के बारे में तरह-तरह के प्रश्न, उनके उत्तरों को संकलित करके विश्लेषण कर देना-मात्र इन्हीं सीमित कार्यों को यदि चिकित्सा-शोध का मुख्य अंग बना दिया जाए, तो कैसा प्रतीत होगा, कोई भी इसे हास्यापद और मूर्खतापूर्ण समझेगा। क्योंकि चिकित्सा-शोध हर तरह के रोग, हानिकारक जीवाणुओं, विभिन्न रोग के लक्षणों, दवाओं, चिकित्सा उपकरणों, रोगों की रोकथाम के उपाय, आदि असँख्य प्रकार के अध्ययनों से जुड़ता है। पर शिक्षा-शोध की स्थिति समझने के लिए हमें उसी कल्पना से तुलना करनी होगी, जो ऊपर की गई है।

शिक्षा क्षेत्र में शोध कार्य का लगभग 90% प्रायः स्कूलों में छात्रों, शिक्षकों के बीच प्रश्नावली, साक्षात्कार माध्यम से पढ़ने-लिखने से जुड़ी कठिनाईयों के प्रश्न पूछना, उनका उत्तर एकत्र करना, तथा स्कूली शिक्षा से संबंधित भौतिक सुविधाओं की उपलब्धता या अभाव के आँकड़े इकट्ठा करने से संबंधित है। विभिन्न स्कूलों में, विभिन्न शोधकर्ताओं द्वारा, विविध रूप में यही काम वर्षो से किया जा रहा है। उनमें कोई एक तारतम्य या गंभीरता भी नहीं दिखती क्योंकि सभी अपने तरीके से एक जैसे कार्य कर रहे हैं। उनमें उबाने की हद तक दुहराव तो है ही, किसी गुणवत्ता की चिन्ता भी नहीं है। यहाँ तक कि शोध के शीर्षकों तक में बहुत कम भिन्नता दिखती है। 'क्लास ट्रांजैक्शन', 'सेल्फ-परसेप्शन', 'अकेडमिक एचीवमेंट', 'जॉब सटिस्फैक्शन' जैसे जुमले एक ही शोध शीर्षक में अनेक बार मिल सकते हैं। मानो यह धारणाएँ इतनी छोटी और सहज प्राप्य हैं, कि एक ही अध्ययन में सभी को समेट लिया जा सकता है। ऐसे बेमेल, भारी-भरकम उद्देश्यों वाले सैकड़ों शीर्षक मिल सकते हैं जिनके अंतर्गत शोध-प्रबंध प्रस्तुत किए जा चुके हैं। फिर भी, आगे भी वैसे ही शोध का सिलसिला अविराम चल रहा है।

बच्चों और उनके शिक्षकों के संदर्भ में उस 'सेल्फ-परसेप्शन', 'अकेडमिक एचीवमेंट', 'जॉब सेटिस्फैक्शन' के आँकड़े जमा करने जैसे सीमित शिक्षा शोध के अतिरिक्त अनगिनत ऐसे विषय हैं

जिन पर शोधकर्ता कभी ध्यान नहीं देते। संभवत: मानसिक जड़ता के असर में अन्य विषयों में कुछ स्मरण करना उपयोगी होगा:शिक्षा का दर्शन, शिक्षा का इतिहास, विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ, शिक्षा में परिवर्तन, महान शिक्षा चिंतकों के जीवन, कार्य और अनुभव, पाठ्यचर्याओं का सामाजिक, दार्शनिक मूल्याँकन, मदरसा शिक्षा विभिन्न दृष्टियों से पाठ्यपुस्तकों की जाँच परख, स्कूलों में बच्चों को दी जाने वाली सजाएँ, स्कूलों में स्काउटिंग और राष्ट्रीय केडैट कोर (एन.सी.सी.) की भूमिका और उपादेयता, शिक्षक संघों की भूमिका और कार्य, हर जगह फैल रहे ट्यूशन और कोचिंग सेंटर, शिक्षकों और शिक्षा-संबंधी कर्मियों के चयन और नियुक्ति की प्रक्रियाएँ और इनका मूल्याँकन, भारत के असँख्य स्कूलों में 'अनुपस्थित शिक्षकों'[2] का मामला, समाज के विभिन्न वर्गों की अपने बच्चों की शिक्षा के बारे में आकाँक्षाएँ और अपेक्षाएँ, पूरब और पश्चिम की शिक्षा पद्धतियों की विशेषताएँ, मजहबी और उनके संप्रदायों द्वारा चालित शिक्षा केंद्र तथा उनकी भूमिका, विभिन्न देशों में शिक्षा-तंत्रों का तुलनात्मक अध्ययन, छात्रों का राजनीति से संबंध अथवा छात्र राजनीति आदि-आदि। इन गंभीर, चुनौतिपूर्ण विषयों पर भारत में कोई शोध अध्ययन खोजना एक निराशाजनक प्रयास होगा। जबकि यहाँ हर वर्ष सैकड़ों की सँख्या में शोध-प्रबंध, पत्र लिखे जाते हैं। अनेक अकादमिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं। कहीं भी उक्त विषयों पर कोई सार्थक लेखन पढ़ना कठिन है। यदि हम गंभीरता से विचार करें तो प्रतीत होगा कि हमारे देश में शिक्षा में शोध की पूरी जमीन बंजर पड़ी है। ऐसा क्यों है?

लगभग 400 से अधिक पीएच. डी. शोध प्रबंधों (Theses), शोध-परियोजनाओं, विभिन्न शिक्षा पत्रिकाओं में प्रकाशित शोध-पत्रों तथा नए शोध प्रस्तावों के अध्ययन के बाद पाया गया कि उपर्युक्त विषय लगभग सभी शोध-कार्य मानों किसी लीक पर चल रहे रुटिन कार्य के समान लगें, जिन्हें अनगिनित बार प्राय: यथावत् दुहराया जा चुका है। इस कारण वर्गीकरण के लिए इन्हें विभिन्न खानों में रखना भी आसान नहीं होता। जानकार विद्वान और प्रोफेसर यह मानते भी हैं।[3]

शोध के नाम पर ऐसे रुटीन कार्य एक निश्चित अनुष्ठान का रूप ले चुके हैं। अनेकानेक शोध में सबसे पहले तरह-तरह के अनमेल, संभव या संभव लक्ष्यों को शोध के 'उद्देश्य' (ऑब्जेक्टिव्स) के अंतर्गत लिखा जाता है। इन उद्देश्यों में कभी-कभी तो अधिकारिक शिक्षा विभागों और नीति-निर्माताओं के लिए कोई विशेष नीति तक बनाने का लक्ष्य जोड़ दिया जाता है। कहीं-कहीं यहीं पर अध्ययन का औचित्य (Rationale) भी प्राय: यह कहकर दिया जाता कि इस विषय पर शोध उपलब्ध नहीं थे।, आदि। इस के बाद शोधकर्ता 'शोध-विधि' (मेथोडोलॉजी) का वर्णन करता है। लगभग 90% शोध कार्यों में इसके अन्तर्गत स्कूली छात्रों अथवा शिक्षकों के

[2]एन.सी.ई.आर.टी. के पूर्व *निदेशक* प्रो. कृष्ण कुमार के अनुसार इस विषय पर एक विदेशी शोध को हर कहीं उद्धृत किया जाता है, क्योंकि हमारे विश्वविद्यालयों, शिक्षा संस्थाओं और विभागों के पास इस विषय पर कोई अपना अध्ययन ही नहीं है। उनके अनुसार भारत में प्राइवेट ट्यूशन संबंधी भी कोई सुसंगत अध्ययन और आँकड़ें नहीं मिलते, जबकि जापान के संबंध ऐसी जानकारी व्यवस्थित रूप से उपलब्ध है।

[3]उदाहरण के लिए, जामिया मिल्लिया इस्लामिया में शिक्षा संकाय के *अध्यक्ष* और *डीन* प्रो. मुहम्मद मियाँ ने हाल में एक मीटिंग में कहा कि अनेक प्रोफेसरों ने शोध के नाम पर एक ही चीज को बार-बार, और भिन्न-भिन्न संस्थाओं के आर्थिक सहयोग से करने की आदत बना ली है।

सर्वेक्षण, उनके लिए प्रश्नावली, उनके विचार या साक्षात्कार लेने की योजना मिलती है। इसके लिए बनाई गई प्रश्नसूची या साक्षात्कार की रूप-रेखा को शोधकर्ता अपना 'उपकरण' (टूल) कहते हैं। प्रायः शोधविधि और उपकरण को अलग-अलग देख, समझ पाना भी कठिन होता है। मानो उपकरण और विधि एक ही चीज हो। उन प्रश्न को छात्रों, शिक्षकों, माता-पिताओं आदि से पूछकर जो उत्तर प्राप्त होता है, वही मुख्य शोध माना जाता है। पुनः उसी के प्रस्तुतिकरण, जो कई बार पूर्णतः दुहराव होता है, को शोध से मिला परिणाम अथवा 'प्राप्ति' (फाइंडिंग्स) की संज्ञा दी जाती है। यह किसी शोध-पत्र या ग्रंथ का अंतिम हिस्सा होता है। इस प्रस्तुति में भी एक ही बात अनेक बार भिन्न-भिन्न अध्यायों या उप-शीर्षक के अंतर्गत लिखी मिलती है। 'प्राप्ति' वाले हिस्से में प्रायः उदारतापूर्वक सामाजिक स्थितियों की आलोचना, उपदेश और सलाहें भी भरपूर मात्रा में रहती हैं। जिनका शोध प्रक्रिया के दौरान मिली सामग्री से कोई संबंध होना भी आवश्यक नहीं माना जाता।

इस प्रकार उद्देश्य, विधि और प्राप्ति के तीन भागों में हरेक शोध विवरण लिखा जाता है। यह केवल किसी शोध की जानकारी देने का रूप भर हो, ऐसी बात नहीं। कई बार इन तीन भागों में किसी प्रकार कुछ बातें, आँकड़े भर देना, उन्हें दुहराते रहना भर शोधकर्ता अपना कार्य मानता है। ऐसा भी लगता है मानो उद्देश्य, विधि और प्राप्तियों को स्वतंत्र रूप से लिखा गया हो। उनका आपस में सुसंगत संबंध नहीं होता। उदाहरण के लिए, उद्देश्य में जितनी बातें लिखी मिलती हैं उनमें से कई का प्राप्ति वाले भाग में पता भी नहीं मिलता। मानो परिणाम लिखते हुए शोधकर्ता भूल गया कि उसने उसी शोध के आरम्भ में कोई अन्य उद्देश्य भी रखे थे। स्पष्टतः, ऐसे शोध में उसके उद्देश्य का उसकी उपलब्धि से संबंध बनाए रखने की चिन्ता नहीं मिलती। पूरी सामग्री पढ़कर अनुभव होता है कि शोधकर्ता के लिए किसी तरह पन्ने भरकर काम पूरा करना ही मुख्य लक्ष्य रहा।

इसीलिए, कई शोध-कार्य रुटीन अनुष्ठान प्रतीत होते हैं, क्योंकि उसमें किसी नई जानकारी पाने अथवा कोई नया विश्लेषण देने की भावना दिखाई नहीं देती। उनमें लिखे असँख्य वाक्य अथवा पैराग्राफ किसी स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं कराते। अनेक स्थलों पर पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य विचित्र शब्दावलियों को सार्थक रूप में प्रस्तुत करने की चिन्ता भी नहीं की जाती। जैसे, 'इंपैक्ट ऑफ सोया बेस्ड इंटरवेंशन प्रोग्राम ऑन नॉलेज ऑफ रूरल वूमैन' अथवा 'लोकस ऑफ कंट्रोल ऑफ मेनस्ट्रीम एंड स्पेशल स्कूल फीमेल टीचर्स'[4]। इन दो शोध-पत्रों में दिए गए परिभाषिक शब्द तथा तकनीकी अर्थ रखने वाली पदावली की कहीं स्पष्ट व्याख्या नहीं दी गई है। मान लिया जाता है कि ये स्वतः अपना अर्थ संप्रेषित कर लेंगे। चूँकि ऐसे शोध-पत्रों पर प्रश्न नहीं उठाए जाते तथा उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है, अतः ऐसा लगता है कि दुरुह होने से संभवतः

[4]यह दोनों प्रकाशित शोध पत्र हैं इनका संदर्भ अथवा इनके शोधकर्ताओं का नाम इसलिए नहीं दिया जा रहा है, ताकि उन्हें चोट न पहुँचे। क्योंकि ऐसे उदाहरण नकारात्मक रूप में दिए जा रहे हैं। इस निबंध में हमारा कथ्य शोध की वर्तमान अवस्था का एक संकेत भर करना है।

शोध-लेखन होने का एक प्रमाण। चाहे उससे पाठक को कोई नई जानकारी या व्याख्या न भी मिलती हो।

किंतु गंभीर मूल्याँकन में ऐसे शोध-कार्य को सार्थक नहीं कहा जा सकता। कई बार शोधकर्ता का भ्रम या अज्ञान स्वयं उसके ही शब्दों में स्पष्ट झलकता है। उदाहरण के लिए, जब वह अपने शोध के उद्देश्य गिनाते हुए असँख्य बड़े-बड़े, बेमेल और विचित्र लक्ष्य एक साथ शामिल कर लेता है। वास्तव में शोध किसी एक बिंदु पर ही केंद्रित हो सकता है। उस बिंदु के किसी नए पहलू की खोज अथवा किसी ज्ञात पहलू की नई व्याख्या देना ही शोध कहलाता है। तभी वह पहले से ही उपलब्ध ज्ञान-भंडार में कोई योगदान करता है। किंतु शिक्षा-शोध संबंधी रिपोर्टों और लेखों से कई बार लगता है मानो शोध का यह अर्थ ही न हो। उदाहरण के लिए एक शोध-पत्र में उसके पहले लक्ष्य के रूप में यह लिखा मिलता है – 'टू स्टडी द इनपुट्स प्रोवाइडेड बाय टीचर ट्रेनिंग इंस्टीच्यूशन बिफोर एंड ड्यूरिंग स्कूल एक्सपीरियेंस प्रोग्राम टू हेल्प प्रोस्पेक्टिव टीचर्स इन डेवेलपिंग पॉजिटिव एटीच्यूड टुवार्ड्स टीचिंग'। यह केवल प्रथम लक्ष्य है। इसके आगे अनेक और लक्ष्य रखे गए हैं जो तेरह पृष्ठों के उस शोध-पत्र को हासिल करना था। उस पहले लक्ष्य में ही दो इतने बड़े कार्य है, जिनके सार्थक अध्ययन में किसी गंभीर अध्येता को लंबे समय तक पसीना बहाना पड़े। किंतु उक्त शोधकर्ता ऐसे लक्ष्यों के वजन से अवगत नहीं लगता। इसी कारण कई बार शोधकर्ता अपने शोध की प्राप्तियाँ लिखते हुए अपने ही द्वारा निर्धारित कुछ लक्ष्यों को भूल जाता है। ऐसे शोध पूरे जरूर हो जाते हैं। उन्हें गिन भी लिया जाता है, किसी संस्थान की रिपोर्ट में उसका उल्लेख भी हो जाता है, किंतु उनसे किसी का लाभ नहीं होता। वास्तव में उन्हें कोई पढ़ता भी नहीं,[5] वे बरसों किसी कोने में धूल खाकर अंततः कबाड़ की भेंट चढ़ जाते हैं।

हमारे शिक्षा-शोध में कुछ विचारों, कुछ शब्दों की अंतहीन तोतारटंत सबसे अधिक दिखने वाला रोग प्रतीत होता है। शोध-विधि पर कार्यशाला में कई प्रोफेसर शोध करने की विभिन्न विधियों के बारे में किताबी बातें पूरे विश्वास से पढ़ाते हैं। विशिष्ट शब्दावली और तकनीकी पदों का भरपूर दुहराव होता है। किंतु उनका वास्तविक जीवन से, लोगों से, उस विषय (शिक्षा, राजनीति, आदि) की आवश्यकताओं या समस्याओं से कैसे संबंध जुड़ता है, इस पर बहुत कम कहा जाता है। शिक्षा के इतिहास का कोई कम ज्ञात पक्ष, या अभी कोचिंग सेंटरों का फैलाव जैसे किसी विषय पर उन शोध-प्रविधियों का क्या उपयोग है, इसकी व्यावहारिक चर्चा शून्य रहती है। दूसरे शब्दों में, उन विशिष्ट मुहावरों, तकनीकी पदों, गणन और विश्लेषण के कंप्यूटर सॉफ्टवेयरों के उपयोग और पश्चिमी समाज विज्ञान में प्रचलित शोध शब्दावली का निरंतर दुहराव ही शोध-विधि प्रशिक्षण का प्रमुख अंग रहता है। इससे ठीक वही मुहावरे

[5] संभवतः शोधकर्ता भी अवचेतन मानते हैं कि उनके पत्र या शोध-रिपोर्ट पढ़े जाने के लिए नहीं हैं। संबंधित संस्थान को अपनी रिपोर्ट या पत्र जमा करने के बाद शायद की कभी कोई पूछता है कि 'मेरा शोध कैसा लगा?' अथवा 'क्या आपने मेरा शोध पढ़ा?' शोधकर्ता में ऐसी उत्सुकता न होना दिखाता है कि वे स्वयं अपने कार्य को पठनीय नहीं मानते। संभवतः वे उसे किसी ऑफिस कार्य की तरह लेते हैं, जिसकी अलग से चर्चा का कोई अर्थ नहीं। किसी गंभीर लेखन के बाद लेखक में ऐसा अनुत्सुक भाव नहीं होता।

दुहराने वाले कुछ नए लोग जरूर तैयार हो जाते हैं। किंतु वास्तव में कोई सार्थक शोध करने की उनकी क्षमता में वृद्धि नहीं होती। वे विभिन्न तकनीकों (टूल्स) से कुछ सीमित किस्म के आँकड़े इकट्ठा कर लेने की विधि अवश्य जान लेते हैं।

किंतु 'आँकड़े इकट्ठा करना शोध नहीं है। उन जुटाए गए आँकड़ों या तथ्यों पर चिंतन करना शोध कहलाता है।'[6] इसकी शिक्षा आमतौर पर शोध-विधि कार्यशालाओं में नहीं मिलती। शोध कर सकने के लिए क्या क्षमता होनी चाहिए, कोई शोध विषय कैसे तय किए जाएँ, उनके लिए क्या पढ़ा जाए, किस तरह की अन्य तैयारी की जाए। ऐसे प्रश्नों को विचार के लायक नहीं समझा जाता। क्योंकि शोध-विधि पढ़ाने वाले प्रोफ़ेसर रट्टू तोतों की तरह किताबी बातें बोल, पढ़ा देते हैं। 'वे शोध की विशिष्ट भाषा शब्दावली बोलते हैं। वे किसी को शोध करने योग्य नहीं बना सकते।'[7] क्योंकि उन्होंने स्वयं शायद ही कोई गंभीर शोध किया होता है। ऐसे लोगों से जैसे-तैसे आँकड़े संग्रहित करने के तरीके, तथा शोध-विधि की रटी-रटाई विशिष्ट शब्दावली ही सीखी जा सकती है, कोई शोध करने की दिशा या क्षमता नहीं।

शिक्षा में सर्वप्रचलित शोध प्रक्रिया और तदनुरूप शोधित सामग्री के अंबार बताते हैं कि यह पूरा क्षेत्र एक मानसिक ठहराव का शिकार हो गया है। इसमें शिक्षा शोध की धारणा अत्यंत संकुचित होकर रह गई है। ऑब्जेक्टिव्ज-मैथड-सैंपल-टूल-फाइंडिग के ढाँचे में ही शोध को बंद कर दिया गया है। इस ढांचे में कोई इस विषय का अध्ययन कैसे कर सकता है कि श्री अरविन्द की युगांतरकारी 'राष्ट्रीय शिक्षा (1910) का आज क्या महत्त्व है, है भी या नहीं। अथवा लेव टॉल्सटॉय के शिक्षा संबंधी विचारों, जो उनके पूरे जीवन भर के सक्रिय, अविच्छिन्न शिक्षा-कार्य तथा पूरे यूरोप में शिक्षा व्यवस्था के स्वयं अध्ययन पर आधारित हैं–उन विचारों का हमारे लिए क्या उपयोग है। ऐसे विषयों पर शोध करने के लिए कौन-सा 'सैंपल' लिया जाएगा, और कैसा 'क्वेशचनायर' काम आएगा अथवा, समाज विज्ञान विषयों के स्कूली सिलेबस में क्या विशेषताएँ और क्या दुर्बलताएँ हैं, किस तरह वह समाज की ज्वलंत समस्याओं के प्रति विद्यार्थियों को सर्वांग शिक्षा देता है, या नहीं देता या फिर रवींद्रनाथ टैगोर और मारिया मौंटेसरी के शिक्षा संबंधी विचारों की तुलनात्मक[8] मूल्यवता क्या है ऐसे अनेकानेक विचारोत्तेजक प्रश्न भारत में शिक्षा-शोध में लगी पूरी बिरादरी के लिए महत्त्वहीन हैं। इनके बारे में कभी विचार-विमर्श तक नहीं करते, शोध तो दूर रहा। क्योंकि उन्होंने आँकड़े और प्रश्नोत्तर जमा करने की अति संकीर्ण, दुहराव भरी, लगभग निरर्थक गतिविधि को ही शिक्षा-शोध का आदि-अंत मान लिया है। उसी में सभी संलग्न हैं। किसी तत्त्व-चिंतन से उनका संबंध नगण्य-सा ही है। इसीलिए प्रकाशित शोध

[6]प्रोफ़ेसर कृष्ण कुमार, पूर्व *निदेशक*, एन.सी.ई.आर.टी. 27 फरवरी 2009 को शैक्षिक शोध एवं नवाचार समिति (एरिक) की बैठक में

[7]प्रोफ़ेसर कृष्ण कुमार, पूर्व *निदेशक*, एन.सी.ई.आर.टी. 27 फरवरी 2009 को शैक्षिक शोध एवं नवाचार समिति (एरिक) की बैठक में

[8]यदि कभी भूले-भटके कोई तुलनात्मक लेख या शोध-पत्र मिलता भी है तो दो शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों की अलग-अलग सूची बिंदुवार दे दी जाती है। अंत में लिखा मिलता है कि 'इस प्रकार दोनों के विचारों में काफी समानता है'

–पत्रों, प्रबंधों, परियोजनाओं में कोई मौलिक शीर्षक मिलना भी कठिन हो गया है।

इस मानसिक जड़ता का ही एक पहलू यह है कि लगभग सभी शोध–विषयों का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। शिक्षा से संबंधित भौतिक–सुविधाएँ–ब्लैकबोर्ड, स्कूल भवन, पाठ्यपुस्तकों का आकार, वजन या उपलब्धता, घर से स्कूल की दूरी, शिक्षकों को मिलने वाली सुविधाएँ या उनकी कमी, परीक्षाफलों का प्रतिशत, रोजगार से शिक्षा का संबंध, आदि। ऐसा नहीं कि यह शिक्षा संबंधी अध्ययनों से बाहर हैं, या कि इनका महत्त्व कम है। बात यह है कि शिक्षा संबंधी संपूर्ण चिंतन, अध्ययन और विमर्श इन भौतिक तत्वों तक ही सीमित रहता है। आगे भी, स्कूली शिक्षा समाप्त कर लेने के बाद छात्र कैसी नौकरी पाता है, क्या कमाता है, किसी स्कूल से कितने छात्र विदेश जाते हैं, आदि ही विचारणीय और उल्लेखनीय चर्चा होती है। शोध में भी यही भौतिकवाद हावी है। शोध विषय तय करने में अ–भौतिक पदों, विशिष्टताओं का समावेश कम ही होता है। 'इमोशनल इंटेलिजैंस' और 'एकेडमिक एचीवमेंट' जैसे पद अनेक बार शोध–विषय और पत्रों में आते भी हैं तो उसमें सार नहीं होता। क्योंकि शोधकर्ता इन्हें भी मूलतः भौतिकवादी दृष्टि से ही नापते हैं। चरित्र निर्माण, सांस्कृतिक और नागरिक मूल्यों का अर्जन, सामंजस्य व्यक्तिव का विकास, आत्मोपलब्धि जैसे अ–भौतिक तत्वों को गंभीर अध्ययन या शोध का विषय नहीं बनाया जाता। मानो मनुष्य केवल उपभोग करने वाला प्राणी मात्र हो। उसका कोई भावनात्मक आध्यात्मिक, सांस्कृतिक जगत न होता हो। शिक्षा–शोध में भौतिकवादी दृष्टि का एकाधिकार इसी से स्पष्ट है कि जो शोधकर्ता निजी जीवन में धार्मिक, सांस्कृतिक रुचि के व्यक्ति भी हैं, वे भी शोध में ऐसे विषय नहीं लेते जो शिक्षा के किसी अभौतिक पक्ष को उठाता हो। इसलिए भी शिक्षा शोध में विषयों, अध्ययनों का उबाऊ दुहराव मिलता है।

अपने संकीर्ण दृष्टिकोण और रुटीन विषयों तक सीमित रहने के कारण ही शिक्षा शोध में लगे लोगों की दुनिया भी सीमित हो गई है। न बाहर के लोग उनके कार्यों में रुचि लेते हैं, न ही शिक्षा–शिक्षार्थियों को उनके मंतव्य जानने की कोई परवाह रहती है। मानो शिक्षा अकादमिकों की अपनी दुनिया है, जिसका अन्य लोगों से कोई संबंध नहीं। 'हर कोई अपने बारे में सोचता है, देश के बारे में नहीं। यह शिक्षा के हर अंग में गिरावट का एक बड़ा कारण हैं।[9] यह टिप्पणी कुछ हद तक इस का स्पष्टीकरण हो सकती है कि क्यों शिक्षा शोध से जुड़े लोग आपस में ही एक दूसरे को संबोधित करते हैं, उस वृहत समाज को नहीं जिसमें वे रहते–जीते हैं। इसीलिए उनके द्वारा किए शोध समाज के लिए व्यावहारिक[10] मूल्य नहीं रखते। इसकी चिंता भी नहीं की जाती। शोध करने वाले स्वयं संतुष्ट हैं कि उन्होंने पर्याप्त और अच्छा काम किया है। यह अन्य बात

[9] प्रो. हुकुम सिंह, *अध्यक्ष*, गणित शिक्षा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. 27 फरवरी 2009.

[10] शिक्षा शोध और नीति संदर्श विभाग के *पूर्व अध्यक्ष* प्रो. मनजीत सेनगुप्ता के अनुसार, 'शिक्षा शोध की हमारी व्यवस्था में सिद्धांत और व्यवहार का साथ नहीं चला है। मैं नहीं जानता क्यों'

है कि उनके अधिकाँश रुटीन शोध कार्य भी बड़ी मात्रा में निम्नस्तरीय ही होते हैं।[11]

संपूर्ण शिक्षा शोध के अत्यंत सीमित विषयों में बंधे रहने का सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण है, कि शोधार्थियों ने हर शहर में चलने वाले व्यस्त कोचिंग सैंटरों पर कोई शोध नहीं किया है। यह कोचिंग सेंटर देश के हर भाग में कम-से-कम तीन दशक से चल रहे हैं। उनकी उपस्थिति और उपयोगिता से शिक्षा से जुड़ा कोई व्यक्ति अनजान नहीं। तब उन पर कोई शोध न मिलना क्या दर्शाता है? यही कि जब कोई शोधकर्ता अपने लिए कोई शोध प्रस्ताव बनाना चाहता है तो वह वास्तव में बाहर समाज में झाँक कर नहीं देखता कि वहाँ क्या चल रहा है, क्या दिख रहा है, क्या बढ़ रहा है या घट रहा है। बल्कि वह कोई देशी, विदेशी शोध-पत्रिका उलटता है। किसी वरिष्ठ प्रोफेसर से पूछता है। क्या विषय या मुहावरा अभी फैशनेबल है, कुछ यही देखकर वह कोई सुविधाजनक विषय निर्धारित करता है। कई बार, शोध के लिए धन देने वाली एजेंसियों की इच्छा भी उसके चयन को प्रभावित करती है।[12] इस प्रकार, इन सभी पट्टियों के कारण एक शोधकर्ता अपने समाज में सामने दिखने वाले विषयों को शोध का विषय नही बनाता। बल्कि एक ही विषय पर दर्जनों शोध-पत्र मिलते हैं और दर्जनों विषयों पर एक भी शोध नहीं मिलता।

कोचिंग सैंटरों को अध्ययन विषय बनाने में एक बाधा और है। चूँकि संपूर्ण शिक्षा विमर्श भौतिकवादी दृष्टि से ग्रस्त है, इसलिए वह ऐसे विषय को उठाने में असुविधा महसूस करता है जिसमें उसके पूर्वग्रह और रटे-रटाए निष्कर्ष काम नहीं आ सकते। वर्तमान शिक्षा विमर्श में हर समस्या को अंततः धन और संसाधनों की कमी तक पहुँचा दिया जाता है। चाहे वह स्कूलों का सर्वेक्षण हो, पाठ्यपुस्तकों की स्थिति हो, अशिक्षा, निरक्षरता, अथवा शिक्षा में गुणवत्ता का अभाव, यहाँ तक कि अच्छे शिक्षकों की कमी – किसी भी बिंदु पर विचार अंततः धन की कमी तथा उसे मुहैया कराने तक ही पहुँचता है। यह विचार इतना सर्वव्यापी है कि किसी अन्य संभावना पर ध्यान नहीं जाता। कोचिंग और प्राइवेट ट्यूशन सैंटर हर समस्या में 'धनाभाव' के पूर्वग्रह को सीधे-सीधे झुठलाते हैं। क्योंकि ऐसे सैंटर किसी इलाके में हर तरह के समृद्ध, सुव्यवस्थित निजी, सरकारी स्कूलों के होने के बावजूद पनप रहे हैं। उनमें पढ़ने वाले धनी स्कूलों के छात्र भी होते हैं, जहाँ संसाधनों का अभाव नहीं। उन सैंटरों में साधारण परिवारों के छात्र भी बड़ी सँख्या में जाते हैं। अर्थात् उनका परिवार उस अतिरिक्त पढ़ाई के लिए अतिरिक्त और प्रायः ऊँची फीस स्वयं देने के लिए तैयार हैं। इस प्रकार, किसी भी तरह कोचिंग और प्राइवेट ट्यूशन केंद्रों का फैलाव

[11] प्रो. दहिया ने यू.जी.सी. द्वारा प्रकाशित यूनिवर्सिटी न्यूज पत्रिका में अपने किसी लेख में कहा है कि 80% पीएच.डी. थीसिस 'नकली', 'कूड़ा' और 'दूसरों की नकल' होते हैं। महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा के प्रो. आर. जी. कोठारी द्वारा वहाँ सितंबर 2009 में हुई एक कार्यशाला में उद्धृत.

[12] महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा में शिक्षा और मनोविज्ञान विभाग के *अध्यक्ष* प्रो. एस. कुमार के अनुसार एक ही तरह के शोध-अध्ययन के पीछे आर्थिक सहायता देने वाली संस्थाओं की प्रेरणा और झुकाव भी कारक हैं। शोधकर्ता उनकी इच्छाओं के अनुरूप शोध-विषय तैयार करते हैं.

समुचित शिक्षा में धन के अभाव के किसी तर्क का समर्थन नहीं करता।

इस परिघटना के अध्ययन में 'रिसोर्स क्रंच' का रोना रोने वाली दृष्टि उलझन में पड़ जाएगी। ऐसा अध्ययन शिक्षा के क्षेत्र में धनाभाव के अलावा, कई अभौतिक तत्वों के अभाव की ओर इंगित करेगा जिस कारण ऐसे सैंटर फल-फूल रहे हैं। यह तत्व है-संपन्न स्कूलों में भी स्तरीय शिक्षा का अभाव, स्कूली शिक्षण के कार्य को मिलता कम आदर, शिक्षकों के चयन में लापरवाही, स्कूल के प्रबंधन में निष्ठा का अभाव, आदि। यह सब ऐसे तत्व हैं जिनका धन की कमी से संबंध नहीं है। यह समाज के मूल्यों, मानसिकता और सांस्कृतिक स्थिति से अधिक जुड़ी समस्याएँ हैं। इनका निदान केवल बजट बढ़ाने से हो ही नहीं सकता। किंतु चूंकि शिक्षा शोध अपनी भौतिकवादी दृष्टि और लीक पीटने पर चल रही है, वही ऐसे मुद्दों को उठाने की सामर्थ्य नहीं रखती। इसीलिए वह कक्षा-भवनों की गिनती, बस्तों के वजन तथा निरक्षरों की गिनती में ही मशगूल रहती है। मानों शिक्षा से जुड़ी अन्य समस्याएँ और पहलू अस्तित्वहीन हैं।

यह एक कठिन वास्तविकता है कि शिक्षा शोध का गिरा हुआ स्तर भी और जिस कारण हो, इसमें धन की कमी कोई कारण नहीं है। स्थिति यह है कि सैंपल-टूल-फाइंडिंग के पिटे-पिटाए ढाँचे में भी ढँग का काम करने वाले नहीं मिलते। नए शोध प्रस्तावों को वित्तीय मदद देने वाली अधिकारिक मीटिंगों में पाया जाता है कि दस में से कठिनाई से दो प्रस्ताव किसी तरह स्वीकार होते हैं, जबकि समिति सदस्य अधिक प्रस्तावों को मंजूरी देने के इच्छुक रहते हैं। इसके लिए वे अपनी कसौटियों को ढीला भी करते हैं। तब स्थिति यह है 80% प्रस्ताव किसी लायक नहीं होते। जबकि उन्हें भेजने वाले अधिकांश विश्वविद्यालयों, कॉलेजों में कार्यरत शिक्षा के रीडर, प्रोफ़ेसर जैसे लोग होते हैं। इस स्थिति पर वरिष्ठ शिक्षा अधिकारीगण निरंतर चिंता भी व्यक्त करते हैं।[13] यद्यपि इसका कोई सीधा या स्पष्ट कारण पकड़ में नहीं आता।

शिक्षा में जो शोध हो रहे हैं, उनका समुचित मूल्याँकन करने की कोई अच्छी व्यवस्था न होना भी एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। प्राय: विश्वविद्यालयों में शिक्षा विभागों में नियुक्त प्रोफेसर ही सारे कार्यों से जुड़े होते हैं। नए शोध प्रस्ताव बनाने, बनवाने, उन पर विचार करने, उन्हें निर्देशित करने तथा उनका मूल्याँकन करने तक सभी कार्यों में उनकी केंद्रीय भूमिका रहती है। यह अपने आप में कोई विशेष बात नहीं। सभी अकादमिक विषयों में अध्ययन और शोध इसी तरह होता है। पर जब किसी विषय में शोध का स्तर निरंतर गिर रहा हो, तब उसके मूल्याँकन और उपाय पर दूसरों द्वारा भी कुछ विचार-विमर्श उपयोगी हो सकता है। यह इसलिए भी उपयुक्त लगता है क्योंकि हाल में शिक्षा संबंधी कुछ अच्छे शोध गैर-शिक्षा क्षेत्रों के शोधार्थियों द्वारा किए गए हैं[14] कई अच्छे लेख भी शिक्षा की पत्रिकाओं से हटकर दूसरी पत्रिकाओं में मिलते हैं। प्रो. कृष्ण कुमार के अनुसार आज का

[13] जैसे, प्रो. जी. रवीन्द्रा, *उप-निदेशक*, एन.सी.ई.आर.टी. इस पर कई बार चिंता व्यक्त कर चुके हैं.

[14] प्रो. कृष्ण कुमार *पूर्व निदेशक*, सेवंथ सर्वे ऑफ एजुकेशनल रिसर्च की सलाहकार समिति की बैठक में, 10 दिसंबर 2007, पुन: एक एरिक मीटिंग में, 27 फरवरी 2009.

सामाजिक वातावरण भी ऐसा है कि वास्तविक शोध को प्रोत्साहन नहीं मिलता। लोग तुरंत कोई फल चाहते हैं, जबकि अच्छा शोध प्राय: दीर्घ कार्य और चिंतन का परिणाम ही हो सकता है।

हमारे देश में शिक्षा में शोध और अध्ययन की भाषा अँग्रेज़ी का होना भी अच्छे शोध के विकास में एक बड़ी बाधा है। साथ ही, इस भाषायी बाधा से किसी शोध की गुणवत्ता का वास्तविक मूल्याँकन नहीं हो पाता। क्योंकि 'शोध की भाषा शिक्षकों की भाषा नहीं है। यह शिक्षा विषय की एक बड़ी समस्या है'।[15] यह केवल शिक्षकों की बात नहीं। समाज के वृहत हिस्से, चाहे उसमें कितने ही बुद्धिमान, विचारशील लोग क्यों न हों, शिक्षा शोध संबंधी लेखन और कार्य पर विमर्श में भाग नहीं लेते। क्योंकि यह सब अँग्रेज़ी में होता है, जो समाज की भाषा नहीं है। इसी कारण, बुरे या निकृष्ट शोध कार्यों का समुचित मूल्याँकन भी नहीं हो पाता। क्योंकि वृहत समाज की दृष्टि से वह बचा रहता है।

स्थिति यह है कि प्रतिष्ठित केंद्रीय विश्वविद्यालयों के चुने हुए शोधार्थी भी अँग्रेज़ी के सामान्य पारिभाषिक शब्दों का स्पष्ट अर्थ ठीक से नहीं जानते। अर्थात्, जिन शब्दों का वे बार-बार प्रयोग करते हैं, उनके बारे में भी उनकी समझ जैसी-तैसी होती है। उदाहरण के लिए, 'डाटा', 'सोशियोलॉजिकल', 'एथनोग्राफिक', 'प्रोसेस' जैसे शब्दों का अर्थ भी शोध-वृत्ति पाए कई छात्र अधिकारपूर्वक नहीं बता पाते। यानी ऐसे छात्र, जो देश भर से शोध-वृत्ति आवेदनकर्ताओं में पंद्रह में एक के अनुपात में चुने गए हैं। उनके जारी शोध कार्यों की समीक्षा के लिए हो रही एक बैठक में यह पाया गया कि कई शोध-छात्र उन अँग्रेज़ी शब्दों की व्याख्या करने में भी असमर्थ हैं, जिनका वे प्रयोग कर रहे हैं। यह स्थिति तब है जब वे किसी न किसी अनुभवी प्रोफ़ेसर के निर्देशन में कार्य कर रहे हैं।

इससे संकेत मिलता है कि अँग्रेज़ी की बाधा न केवल उनकी है जो अँग्रेज़ी में नहीं लिखते-बोलते, बल्कि उनकी भी है जो अपना अकादमिक काम इसी भाषा में करते हैं। शोध लेखन पर हो रही एक कार्यशाला में किसी ने पूछा कि 'एन्नोटेटेड बिब्लियोग्राफी' (Annotated bibliography) का क्या अर्थ है, तो उस सत्र का संचालन कर रहे प्रोफ़ेसर उत्तर नहीं दे सके। इसी तरह, 'रिसर्च आर्टिकल' और 'रिसर्च नोट' में अंतर पूछने पर अनेक वरिष्ठ प्रोफेसर भी असहजता महसूस करते हैं, जबकि यह पदावली वर्षों से शोध-पत्रिकाओं में प्रयुक्त हो रही है। कहने का अर्थ यह कि अँग्रेज़ी के विजातीय माध्यम के कारण भी शोध की गुणवत्ता प्रभावित होती है, क्योंकि माध्यम की कठिनाई हमारे विचारों की अभिव्यक्ति और संपूर्ण आदान-प्रदान के बीच दीवार बन जाती है। हम चाह कर भी अपना संपूर्ण नहीं दे पाते।

ऐसे कारणों से शिक्षा शोध के अपने मूल्याँकनकर्ता भी अँग्रेज़ी में लिखी शोध-सामग्रियों को प्राय: सरसरी नजर से ही देखते हैं। जैसा ऊपर संकेत है, वे शोध-प्रस्तावों और कार्यों को किंचित उदारता से देखते हैं। इसलिए शोध-पत्र या प्रस्ताव में मौजूद भाषायी अनगढ़ता, खालीपन, भूल या अटपटेपन को तरह (Ignore कर देते हैं) दे देते

[15] प्रो. कृष्ण कुमार *पूर्व निदेशक*, 28 जनवरी 2008 को इंडियन एजुकेशनल रिव्यू की सलाहकार समिति की बैठक में.

हैं। उसमें दिए गए पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य विवरणों से स्वयं कोई अर्थ निकाल कर आगे बढ़ जाते हैं। इससे भाषा संबंधी गहरी कमजोरियाँ, जो जारी शोध कार्यों को प्रतिकूल प्रभावित करती हैं, उन पर पर्याप्त विचार नहीं हो पाता।

शिक्षा शोध के लिए गंभीर अध्येतओं का अभाव भी एक मुख्य समस्या है। पीएच.डी. शोध छात्रों द्वारा चल रहे कार्यों की समीक्षा के लिए हुई एक बैठक में जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय के एक शोधार्थी ने अपनी प्रगति का ब्यौरा देना आरंभ किया। उस ने शुरुआत ही यह कहने से की कि उसने अपने शोध के विषय में कुछ परिवर्तन कर दिया है। यह पूछे जाने पर कि क्या यह उसने औपचारिक प्रक्रिया के द्वारा किया है, वह संभ्रमित हो गया। मानो इसकी क्या आवश्यकता हो गई। वहाँ उपस्थित कई विशेषज्ञों को उसे यह समझाने में दस मिनट लगे कि वह इस प्रकार अपना शोध-विषय बीच-राह मनमाने नहीं बदल सकता। उसी बैठक में, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के एक शोध-छात्र ने अपने शोध की प्रगति बताने में पहले विश्वविद्यालय का इतिहास बताना आरंभ किया। एक मिनट तक सुनते रहने पर भी जब वह अपने विषय पर नहीं आया तो एक विशेषज्ञ ने पूछा कि वह अपने शोध की प्रगति बताए। उत्तर मिला कि आज तो वह उतना ही तैयार करके आया था।

यह उदाहरण संकेत करते हैं कि बड़े साधन-संपन्न विश्वविद्यालयों के चुने हुए छात्र भी शोध-कार्य की गंभीरता से कम ही परिचित हैं। जिन्होंने कई शोध-कार्य किए हैं, ऐसे लोग भी उनके किसी शोध विशेष के बारे में विस्तृत प्रश्न पूछे जाने पर–जैसे, उन्होंने यह विषय क्यों चुना, इसके लिए उन्होंने क्या अध्ययन किया, इस शोध की विशिष्ट उपलब्धि क्या है, यह कौन-सी नई जानकारी या व्याख्या देता है, अथवा यह किसके काम आ सकता है, आदि-कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। मानो उन्होंने अपने शोध के बारे में कभी ऐसे प्रश्नों पर विचार ही न किया हो।

वस्तुतः उनमें अनेक ऐसे हैं जिनमें शोध की योग्यता या प्रवृत्ति नहीं है। किंतु मात्र एक डिग्री विशेष के धारक होने के कारण हर किसी को शोध करने योग्य मान लिया जाता है। यह धारणा भी गड़बड़ी का एक स्रोत है। इसीलिए किसी समाजविज्ञान विषय में एम.ए. किए प्रत्येक व्यक्ति को शोध-प्रविधि की तकनीकी जानकारी देकर उसे शोध के लिए उपयुक्त मान लिया जाता है। किंतु गंभीर अध्ययन और चिंतन के लिए अनिच्छुक व्यक्ति को रिसर्च मैथेडोलॉजी का प्रशिक्षण देकर अच्छे शोध की आशा करना ऐसा ही है जैसे लड़ने में अयोग्य, अनिच्छुक, भीरू व्यक्ति को हथियार चलाने की जानकारी देकर जीत की आशा करना। यदि उपलब्ध शोध की गंभीर परीक्षा करें तो अधिकाँश शोधकर्ता पढ़ने-लिखने के प्रति रुचि रखने वाले नहीं प्रतीत होते। उनकी भाषा ही सारी पोल खोल देती है।

इसीलिए शिक्षा शोधकर्ताओं की स्थिति उन यात्रियों जैसी है जिन्हें यह पता नहीं कि कहाँ जाना है। किंतु वे पूरी गंभीरता से यात्रा की सारी तैयारियों में लगे हों। किस सवारी से जाना, रुकने का प्रबंध, रसद, परिचारकों की व्यवस्था आदि। यह सब भी मानो वे अपनी स्वतंत्र बुद्धि से नहीं विचारते, बल्कि किसी जरुरी परंपरा के पालन

के रूप में उन्हें यह सब करना ही हो। शिक्षा शोध के नए विषय लेते, उस पर काम करते, रिपोर्ट जमा करते शोधार्थियों का लेखन कुछ ऐसा ही आभास देता है। अपने शोध कार्यों के बारे में उन्हें इसका कोई भान नहीं कि यह सब किस उपयोग का है।

ऐसे शोधकर्मी अपने आप में प्रथम दोषी नहीं, यदि उन्हें अपने कार्य की वास्तविक उपादेयता की कोई चिंता नहीं है। इस बिंदु पर उनकी स्थिति समाज विज्ञान विषय के पुराने सोवियत स्कॉलरों जैसी ही है। अपने आप में वे बुद्धिमान, योग्य और कर्तव्यनिष्ठ लोग होते थे। अंतरिक्ष विज्ञान समेत प्राकृतिक विज्ञान के हरेक क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ किसी भी उन्नत देश के समकक्ष थीं। फिर भी क्या कारण है कि लगभग सात दशकों तक (मोटे तौर पर 1922–86 के बीच) उनमें कोई दर्शन शास्त्री, राजनीति शास्त्री, इतिहासकार या साहित्य समीक्षक नहीं हो सका जिसका नाम भी लिया जा सके क्योंकि इन विषयों में वही रूसी लोग उस दौरान सदैव ऐसी चीजें लिखते, प्रकाशित करते, प्रसारित करते रहे जो प्रायः कृत्रिम, अर्थहीन और मिथ्या साहित्य था। उन्हें इसका विशेष भान न था कि उनके द्वारा लिखा गया 'साइन्टिफिक' शोध–साहित्य हास्यास्पद रूप से असत्य है। इसका कारण था कि उन्होंने आरंभ से ही कुछ जड़–सूत्रों को ऐसा वैज्ञानिक दिशा–निर्देशक मान रखा था जिसके अनुरूप ही अध्ययन, शोध आदि हो सकते थे। चूँकि उसी को उनका पूरा समाज, ऊपर से नीचे तक, दिशा–निर्देशक मानता था इसलिए सभी को विश्वास था कि जो वे कर रहे हैं, वह उपयुक्त है। उसके औचित्य, उपयोगिता आदि पर उन्हें संदेह न था। क्योंकि उसकी परख करने की उनके पास कोई स्वतंत्र, वास्तविक कसौटी नहीं थी। आज भी पश्चिम एशिया और किन्हीं जड़–विश्वासों के निर्देश में चलने वाले समाजों में इतिहास, राजनीति, शिक्षा दर्शन और साहित्य विषयों में वही रोग और खालीपन देखा जा सकता है। जहाँ खुले और स्वतंत्र चिंतन को किन्हीं पूर्व–निर्धारित 'सर्वोच्च सिद्धांत' का अनुपालन करने के लिए विवश किया जाता है।

कुछ उससे मिलती–जुलती स्थिति हमारे शिक्षा शोध की भी है। अपने सभी पहलुओं में शिक्षा का संपूर्ण अर्थ उनके क्रियाकलापों में नदारद दिखता है। हमारे महान शिक्षा चिंतकों ने शिक्षा का जो अर्थ बताया, समझाया है, वह मानो वर्तमान शिक्षा शोधार्थियों के लिए निरर्थक हो गया है। एक सीमित, संकीर्ण गतिविधि ही शिक्षा–शोध है। इसीलिए वास्तव में शिक्षा में शोध उन गतिविधियों का नाम भर है जो इसके अंतर्गत विभिन्न शिक्षा संस्थानों द्वारा की और करवाई जा रही है। एक रुटीन व्यापार, एक प्राणहीन, अनुष्ठान, जिसके घोषित उद्देश्य और वास्तविक उपलब्धियों में बहुत अंतर है। कोई भी दस शोध–पत्र या प्रबंध एक बैठक में देखा जाए, तो उनमें कोई सार्थक विचार या नवीन तथ्यों का संकलन भी जल्द नहीं मिलता। जान पड़ेगा कि उनसे कोई सुसंगत जानकारी और निष्कर्ष निकलने की अधिक चिंता भी नहीं की गई। संभवतः शोध की एक विशिष्ट शब्दावली का उनमें प्रयोग होने के कारण ही ऐसी प्रस्तुतियों को शोध–पत्र या प्रबंध मान कर प्रतिष्ठा दी जाती है। इसमें संदेह है कि ऐसे

गतिविधियाँ किसी कठोर बौद्धिक परीक्षण में अपने नाम पर खरी उतर सकेंगी।

संभवत: यही कारण है कि किसी संस्थान में शोध-पत्रों, पूरी की गई शोध-परियोजनाओं का एक-एक कर गंभीर मूल्याँकन करने, उन पर हर पहलू से विचार करने, तथा उनसे कोई निष्कर्ष निकालने, तथा शोधकर्ता को उसकी जानकारी देने की कोई परंपरा नहीं है। एक नियमबद्ध कार्य की तरह शोध चलते और प्रकाशित होते हैं। उनसे कुछ प्राप्त होता है या नहीं, यह बात ही अप्रासंगिक बनी रही है। सामान्यत: उन पत्रों, प्रबंधों और रिपोर्टों को शायद ही कोई वास्तव में पढ़ता भी है। उनसे कोई लाभ उठाना तो दूर रहा। अत: यह अनुमान अतिरंजित नहीं कि हमारे देश के शिक्षा-शोध साहित्य को यदि द्योमका पढ़ता तो उसकी प्रतिक्रिया यही होती, कि इन्हें पढ़ने के बाद लगता है मानो कुछ पढ़ा ही नहीं।

शिक्षा शोध की दुरावस्था का एक कारण उचित मार्गदर्शन का अभाव भी है। न केवल संपूर्ण शोध-नीति के मार्ग-दर्शन वरन् प्रत्येक शोध का समुचित निर्देशन। यदि वास्तविक शोधकर्ता और वास्तविक मार्गदर्शक हों तो शिक्षा में शोध की स्थिति अविलंब बदल सकती है। हमारे देश में अन्य सभी परिस्थितियाँ सकारात्मक हैं। केवल शिक्षा क्षेत्र में शोध समेत प्रत्येक कार्य के लिए सदैव उपयुक्त व्यक्तियों के चयन की सावधानी बरती जानी चाहिए। औपचारिकता और कागजी खाना-पूर्ती बंद होनी चाहिए। चाहे कम हो, पर शोध सदैव वास्तविक हो, उसे केवल गिनती बढ़ाने की प्रवृति से अविलंब मुक्त करना चाहिए। इस आत्मक छलना से शिक्षा शोध को मुक्त करना ही होगा। स्थिति में सुधार का कार्य इस बिंदु से भी आरंभ किया जा सकता है।